DELHI UNIVERSITY
LIBRARY

DELHI UNIVERSITY LIBRARY

Cl. No. O152:1M86:15 H6

Ac No. 52937 Date of release for loan

This book should be returned on or before the date last stamped below. An overdue charge of one anna will be levied for each day the book is kept beyond that date.

AUG 1951			
[illegible] 1951			
Nov. 1951			
n. 1952			
4 Jan. 1952			
[illegible] 1952			
[illegible]			
NOV 1952			
8 NOV 1952			
30 JUN 1953			

किसान

श्रीहरि

किसान

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

साहित्य-सदन
चिरगाँव (झाँसी)

२००३ वि०

मूल्य

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित।

समर्पण

होते हैं सैकड़ों निछावर एक 'वोट' पर जिसके ,
फहराते विश्वास-केतु हैं मान-कोट पर जिसके ।
राजा और प्रजा दोनों का जिसका मुख दर्पण है ,
उसी, 'आनरेबुल' पदवी को यह "किसान" अर्पण है ॥

टिगरिस-तट पर, युद्धस्थल में ,
वीरोचित गति को पाकर ,
अन्तिम वाणी से, पल पल में ,
निज शोणित से लिखवाकर—
हे भारत ! मरने के पहले ,
यह तेरा किसान सैनिक ,
तुझे दिये जाता है, यह ले ,
आत्म-चरित ही चिर-दैनिक ।

श्रीगणेशाय नमः

किसान

प्रार्थना

यद्यपि हम हैं सिद्ध न सुकृती, व्रती न योगी,
पर किस अघ से हुए हाय ! ऐसे दुख-भोगी ?
क्यों हैं हम यों विवश, अकिञ्चन, दुर्बल, रोगी ?
दयाधाम हे राम ! दया क्या इधर न होगी ?

देव ! तुम्हारे सिवा आज हम किसे पुकारें ?
तुम्हीं बता दो हमें कि कैसे धीरज धारें ?
किस प्रकार अब और मरे मन को हम मारें ?
अब तो रुकती नहीं आँसुओं की ये धारें !

ले लेकर अवतार असुर तुमने हैं मारे,
निष्ठुर नर क्यों छोड़ दिये फिर बिना विचारे ?
उनके हाथों आज देख लो हाल हमारे,
हम क्या कोई नहीं दयामय ! कहो, तुम्हारे ?

पाया हमने प्रभो ! कौन-सा त्रास नहीं है ?
क्या अब भी परिपूर्ण हमारा ह्रास नहीं है ?
मिला हमें क्या यहीं नरक का वास नहीं है ?
विष खाने के लिए टका भी पास नहीं है !

नहीं जानते, पूर्व समय क्या पाप किया है,
जिसका फल यह आज दैव ने हमें दिया है !
अब भी फटता नहीं वज्र का बना हिया है,
इसीलिए क्या, हाय ! जगत में जन्म लिया है ?

हम पापी ही सही किन्तु तुम हमें उबारो,
दीनबन्धु हो, दया करो अब और न मारो।
करके अपना कोप शान्त करुणा कर तारो,
अपने गुण से देव ! हमारे दोष बिसारो ॥

हमें तुम्हींने कृषक - वंश में उपजाया है,
किसका वश है यहाँ, तुम्हारी ही माया है,
जो कुछ तुमने दिया वही हमने पाया है,
पर विभुवर ! क्यों यही दान तुमको भाया है ?

कृषक-वंश को छोड़ न था क्या और ठिकाना ?
नरक-योग्य भी नाथ ! न तुमने हमको माना !
पाते हैं पशु - पक्षि आदि भी चारा-दाना,
और अधिक क्या कहें, तुम्हारा है सब जाना ॥

कृषि ही थी तो विभो ! बैल ही हमको करते,
करके दिन भर काम शाम को चारा चरते।
कुत्ते भी हैं किसी भाँति दग्धोदर भरते,
करके अन्नोत्पन्न हमीं हैं भूखों मरते!

कृषि-निन्दक मर जाय अभी यदि हो वह जीता,
पर वह गौरव-समय कभी का है अब बीता।
कृषि से ही थीं हुई जगज्जननी श्री सीता,
गाते अब भी मनुज यहाँ जिनकी गुण-गीता॥

एक समय था, कृषक आर्य्य थे समझे जाते—
भारत में थे हमीं 'अन्नदाता' पद पाते।
जनक सदृश राजर्षि यहाँ हल रहे चलाते,
स्वयं रेवतीरमण हलायुध थे कहलाते॥

लीलामय श्रीकृष्ण जहाँ गोपाल हुए हैं,
समय फेर से वहाँ और ही हाल हुए हैं!
हा! सुकाल भी आज दुरन्त दुकाल हुए हैं,
थे जो मालामाल अधम कङ्गाल हुए हैं!

जिस खेती से मनुज मात्र अब भी जीते हैं—
उसके कर्त्ता हमीं यहाँ आँसू पीते हैं!
भर कर सबके उदर आप रहते रीते हैं,
मरते हैं निरुपाय हाय! शुभ दिन बीते हैं॥

हमसे ही सब सभ्य सभ्य बनकर रहते हैं,
तो भी हमको निपट नीच ही वे कहते हैं।
कृषिकर होकर हम न कौन-सा दुख सहते हैं ?
निराधार मँझधार बीच कब से बहते हैं !

जिस कृषि से सब जगत आज भी हरा भरा है,
क्यों उससे इस भाँति हमारा हृदय डरा है ?
कृषि ने होकर विवश कड़ा कर आज वरा है,
हम कृषकों के लिए रही बस शून्य धरा है

कड़ी धूप में तीक्ष्ण ताप से तनु है जलता,
पानी बन कर नित्य हमारा रुधिर निकलता !
तदपि हमारे लिए यहाँ शुभ फल कब फलता ?
रहता सदा अभाव, नहीं कुछ भी वश चलता ॥

वर्षा का सब सलिल खुले सिर पर है झड़ता,
विकट शीत से अस्थिजाल तक आप अकड़ता।
है बैलों के साथ बैल भी, बनना पड़ता,
जलता तो भी उदर, अहो ! जीवन की जड़ता !

कृषक-वंश में जन्म यहाँ जो हम पाते हैं,
तो खाने के नाम नित्य हा हा खाते हैं !
मरने के ही लिए यहाँ क्या हम आते हैं ?
जीवन के सब दिवस दुःख में ही जाते हैं !

शिक्षा को हम और हमें शिक्षा रोती है,
पूरी बस वह घास खोदने में होती है!
कहाँ यहाँ विज्ञान रसायन भी सोती है,
हुआ हमारे लिए एक दाना मोती है!

परदेशों की तरह नहीं कुछ कल का बल है,
वह तो अपने लिए मन्त्र माया या छल है!
जो कुछ है बस वही पुराना हल-बक्खल है,
और सामने नष्टसार यह पृथ्वीतल है!

बहते हुए समीप नदी की निर्मल धारा—
खेत सूखते यहाँ, नहीं चलता कुछ चारा।
एक वर्ष भी वृष्टि बिना समुदाय हमारा—
भीख माँगता हुआ भटकता मारा मारा!

प्रभुवर! हम क्या कहें कि कैसे दिन भरते हैं?
अपराधी की भाँति सदा सबसे डरते हैं।
याद यहाँ पर हमें नहीं यम भी करते हैं,
फिजी आदि में अन्त समय जाकर मरते हैं!

बनता है दिन-रात हमारा रुधिर पसीना,
जाता है सर्वस्व सूद में फिर भी छीना।
हा हा खाना और सर्वदा आँसू पीना,
नहीं चाहिए नाथ! हमें अब ऐसा जीना!

देव ! हमारी दशा तुम्हारी है सब जानी,
नहीं मानती किन्तु आज यह व्याकुल वाणी।
सुन लो, अपने दीन जनों की राम-कहानी,
दया करोगे आप हुए यदि पानी पानी॥

तुम भी वाचक-वृन्द ! तनिक सहृदय हो जाओ,
अपने दुर्विध बन्धुजनों को यों न भुलाओ।
यही समय है कि जो कर सको कर दिखलाओ,
बन्धु नहीं तो मनुज जान कर ही अपनाओ॥

बाल्य और विवाह

जब कुछ होश सँभाला मैंने अपने को वन में पाया,
हरी भूमि पर कहीं धूप थी और कहीं गहरी छाया।
एक भैंस दो गायें लेकर दिन भर उन्हें चराता था,
घर आकर, व्यालू में माँ से एक पाव पय पाता था॥

सुख भी नहीं छिपाऊँगा मैं, पाया है मैंने जितना,
कभी कभी घी भी मिलता था, यद्यपि वह था ही कितना।
माता-पिता छाँछ लेकर ही मधुर महेरी करते थे,
भैंस और गायों की रहँटी घी दे देकर भरते थे॥

देख किसीका ठाठ न हमको ईर्ष्या कभी सताती थी,
और न अपनी दीन दशा पर लज्जा ही कुछ आती थी।
मानों उन्हें वही थोड़ा है और हमें है बहुत यही,
जो कुछ जो लिखवा लायेगा पावेगा वह सदा वही॥

जो हो, मैं निश्चिन्त-भाव से था मन में सुख ही पाता,
किसी तरह खेती-पाती से था संसार चला जाता।
मुक्त पवन मेरे अङ्गों का वन में स्वेद सुखाती थी,
घनी घनी छाया पेड़ों की गोदी में बिठलाती थी॥

धन मन का माना ही धन है, पीतल भी तो पीला है ,
धन तो खाया नहीं न जाता, जग की कैसी लीला है !
धन जो हो, परन्तु क्यों उस पर मानव ऐसे मरते हैं ?
क्यों वे उसके लिए निरन्तर पुण्य-पाप सब करते हैं ?

धन को धनता मिली हमींसे और हमीं उस पर फूले ,
अपने से भी बढ़ कर उसकी चिन्ता में पड़ कर भूले।
अपने ऊपर आप चढ़ाया हमने क्या पागलपन है ,
तब तो पशु-पक्षी ही अच्छे जिन्हें न धन का बन्धन है ॥

जन से धन बढ़ गया कि जिससे जन ही जन को मार रहा ,
महाजनों को हम लोगों का है कब कष्ट-विचार अहा !
प्रभुवर धन के लिये किसीका मैं न कभी अपकार करूँ ,
धन ही मिले मुझे तो उससे जनता का उपकार करूँ ॥

पाठक खिन्न न हों कि दीन यह पागल-सा क्या बकता है ,
नहीं गँवार किसान तत्त्व का अनुशीलन कर सकता है।
इस अनपढ़ जड़ जन के ऊपर समुचित इससे रोष नहीं ,
आप खिन्न हों किन्तु दास का इसमें कुछ भी दोष नहीं ॥

जो हो, सोच रहा था मन में मैं यों कितनी ही बातें ,
वे कैसी ही हों; पर उनमें थी न दूसरों पर घातें।
बड़ी देर हो गई सोचते, पर न समझ में कुछ आया ,
आखिर अपनी वंशी लेकर मैंने एक गीत गाया—

"अरी जसोदा ! तेरे सुत ने सबको आज सनाथ किया ,
कूद अथाह अगम जमना में काली को है नाथ लिया ।"
जब तक पूरा करूँ गीत में—एक विकट चीत्कार नया—
मानों मेरे कान फोड़ कर, तान तोड़ कर गूँज गया !

चौंक उठा मैं और शीघ्र ही डण्डा ले बाहर आया ,
भीत भाव से सब पशुओं को इधर उधर भगते पाया ।
सन सन पवन शून्य में चलती, धरा धूप से जलती थी ,
किन्तु प्रकृति के रोम रोम से ध्वनि बस वही निकलती थी ॥

चारों ओर वहाँ पर मैंने तीक्ष्ण दृष्टि जो दौड़ाई ,
नदी किनारे एक बालिका केवल चिल्लाती पाई ।
उसके पशु भी भाग रहे थे पानी पीना छोड़ अहा !
देखा और कि एक तेंदुआ उसी ओर है लपक रहा ॥

सर्वनाश ! भय से लड़कों ने आंखों को था मींच लिया ,
दौड़ा मैं, या उसी दृश्य ने मुझे आप ही खींच लिया ।
पल भर में सब हुआ, उधर तो वह उस लड़की पर टूटा—
और इधर उसके माथे पर मेरा एक हाथ छूटा ॥

छड़ी न थी बाबू लोगों की, मेरा मोटा डण्डा था ;
और उन्हीं के शब्दों में मैं भी कुछ मुस्तण्डा था ।
पोले का लोहा हिंसक के दृढ़ मस्तक में पैठ गया ,
रही छलाँग अधूरी, तत्क्षण वह नीचे ही बैठ गया !

करके फिर हुङ्कार मचा दी मारामार वहाँ मैंने ,
सुध न मुझे भी रही कि कितने किये प्रहार वहाँ मैंने ।
लगे एक दो घाव मुझे भी किन्तु तेंदुआ मार लिया ,
तो भी बड़ी देर तक मेरा धक धक करता रहा हिया ॥

उसी समय मेरे कुछ साथी, सोते थे जो जहाँ तहाँ ,
अपने अपने अस्त्र उठाकर आ पहुँचे सोत्साह वहाँ ।
सुन कर 'अस्त्र' शब्द पाठकगण ! आप न कुछ अचरज मानें ,
हँसिया, खुरपी और कुल्हाड़ी इनको ही सब कुछ जानें ॥

चले मारने वे भी उसको कह कर केवल अहो ! अहो !
वाक्यस्फूर्ति हुई तब मेरी—अब तो वह मर चुका, रहो ।
काँप रही थी भीत बालिका, धीरज उसे दिया मैंने ,
अब डर नहीं, कौन हो तुम ? यों उससे प्रश्न किया मैंने ॥

बोल न सकी किन्तु कुछ भी वह भोले भाले मुख वाली ,
केवल मेरे ऊपर उसने एक अपूर्व दृष्टि डाली ।
पाया प्रत्युपकार हृदय ने, देखा मैंने उसे जहाँ ,
मेरे लिए विषाद भाव भी था कृतज्ञता सहित वहाँ ॥

वहीं पास के एक गाँव में उस कुलवन्ती का घर था ,
पर किस तरह अकेली जाती ? छूटा नहीं अभी डर था ।
उसे साथ जाकर तब मेरे दो साथी पहुँचा आये ,
धोकर घाव नदी में मैंने मन में हरि के गुण गाये ॥

फैल गई झट इस घटना की चर्चा गाँवों गाँवों में,
पड़ने लगीं दृष्टियाँ सबकी मेरे गहरे घावों में।
हुए प्रसन्न पिता भी मन में, मिला सुयश यों अनचीता,
माँ ने कहा कि मेरा कलुआ कोरा दूध नहीं पीता!

दो दिन पीछे समाचार यह सुना गया सन्देह-रहित—
कुलवन्ती मुझको ब्याहेगा उसका पिता मान कर हित।
माँ को हर्ष और मुझको कुछ लज्जामय सङ्कोच हुआ,
किन्तु विवाह कहाँ से होगा, सौम्य पिता को सोच हुआ॥

पहला ही ऋण नहीं चुका है, रहँटी बीज खवाई का;
कैसे चुके, लगा है झगड़ा सबके साथ सवाई का!
खेती में क्या सार रहा अब कर देकर जो बचता है,
कड़े ब्याज के बड़े पेट में सभी पलों में पचता है!

दुखी किन्तु निष्पाप पिता को इस अदृष्ट पर क्रोध हुआ,
फिर भी वह सम्बन्ध न करना उनको अनुचित बोध हुआ,
भैंस और गायों का देना उन्हें बेच कर चुका दिया,
जो बाकी बच रहा उन्होंने उससे मेरा ब्याह किया॥

बस, यह बातें रहें यहीं तक, मैंने कुलवन्ती पाई,
दैन्यावस्था में भी मुझको हुआ समय वह सुखदायी।
हाय! स्वप्न भी उन बातों का हो सकता अब प्राप्त नहीं,
तो आगे बढ़ने के पहले क्यों न ठहर लूँ तनिक यहीं॥

२

—०—

गार्हस्थ्य

मेरे लिए सुहाग - रात का कैसा हुआ प्रभात ?
पड़ी कान में दो पथिकों के लुट जाने की बात।
कहाँ ? नदी पर, जहाँ तेंदुआ मारा था उस रोज,
चलो, पुलिस की चिन्ता छूटी करनी पड़ी न खोज !

"नई बधू के लिए दीन जब पा न सका उपहार—
तब क्या करता, लूट-मार का करना पड़ा विचार।
पर कुछ बिगड़ा नहीं अभी तक करले यदि स्वीकार,"
प्राज्ञ पुलिस का यही तर्क था, कौन करे प्रतिकार ?

कहा पिता ने—"वह लड़का है, यह कैसा अन्धेर ?"
किन्तु वहाँ इसके उत्तर में लगती थी क्या देर।
"ऐसा लड़का है कि अकेले की दो दो पर घात,
लड़े तेंदुओं से जो उसको है यह कितनी बात ?"

"अच्छा, यही सही, तो उसका करदो तुम चालान,
डर क्या है, सच और झूठ का साक्षी है भगवान।"
यह सुन कर भी जमादार ने किया न कुछ भी रोष,
बोला वह कि "मान लो, कल्लू छूट गया निर्दोष—

पर कितनी बदनामी होगी जब होगा चौलान,
जान बूझ कर भी क्यों ऐसे बनते हो अनजान?
सोचो, कौन दरोगाजी का पकड़ सकेगा हाथ?
झूठे झगड़े में भी उनका कौन न देगा साथ?

आते हैं मौके पर अब वे करने तहकीकात,
वहाँ बुलाते ही कल्लू को बिगड़ जायगी बात।
अब तक कोई नहीं जानता, आया हूँ मैं आप,
मान रहे तो जान—सोच लो, तुम हो उसके बाप॥'

"तो क्या करूँ?" पिता ने पूछा उग्र भाव को त्याग,
तब शुभचिन्तक जमादार ने दिखलाया अनुराग।
था सारांश एक गिन्नी से चल सकता है काम,
पर गिन्नी कैसी होती है, सुना आज ही नाम॥

बहुत नहीं, बस पन्द्रह रुपये रख सकते हैं लाज,
पर क्या पन्द्रह पैसे भी हैं मेरे घर में आज?
हे कमलेश! बचा लो मेरी लज्जा अबकी वार,
दिलवा दो उधार ही मुझको तुम पन्द्रह कलदार॥

आना रुपया ब्याज लिखा कर करके अति उपकार,
सदय साह ने इस विपत्ति से हमको लिया उबार!
मुझे घूँस देना खटका, पर देख पिता का रोष
कह न सका कुछ सहम गया मैं, था मेरा ही दोष!

आई जमींदार की बारी जमादार के बाद,
हुक्म हुआ—"इस साल खेत में तुम न डालना खाद।
उसी जगह के मिलते हैं अब पन्द्रह के पच्चीस,
तुम्हीं जोतना चाहो तो फिर देने होंगे तीस?"

दीख पड़ा सब ओर पिता को अन्धकार इस बार,
ज्ञात हुआ केवल प्रकाशमय पटवारी का द्वार।
किन्तु बड़ों के सम्मुख कैसे जावें रीते हाथ?
दोनों पैरों पर रखने को जोड़ी तो हो साथ॥

तय पाये पच्चीस अन्त में, देने पड़े न तीस,
दो पटवारी-पूजन के थे यों सब सत्ताईस।
तीन बचे, पर बारह टूटे, तो भी हुए सनाथ;
लिखी "कबूलत" हुई निशानी, कटवा बैठे हाथ॥

जमींदार ने कहा कि "सुनलो, कहते हैं हम साफ—
अब की बार फसल फिर बिगड़े या लगान हो माफ,
पर हम जिम्मेवार नहीं हैं, छोड़ेंगे न छदाम,
जो तुमको मंजूर न हो तो देखो अपना काम॥"

कहा पिता ने—"क्यों कहते हैं ऐसी बात हुजूर,
प्रभु क्या अब भी सदय न होंगे, है मुझको मंजूर।"
मैं भी था, मन ही मन मैंने लिया राम का नाम,
और कहा—मंजूर न हो तो देखो अपना काम॥

हुक्म हुआ फिर "मगर कबूलत होगी फिर बेकार ;"
इन्दुलतलब नाम का रुक्का लिखा गया लाचार।
फिर भी वह "बेकार कबूलत" रही उन्हीं के पास,
उतने में उतने ही मिल कर पूरे हुए पचास॥

'अविश्वास क्यों बड़े लोग क्या होंगे बेईमान ?'
मैंने कहा कि—'वे क्यों हम हैं, साक्षी है भगवान।'
पर वह मेरी 'गुस्ताखी' थी, मिली डाँट भरपूर,
कुशल यही थी कि मैं पिता से बैठा था कुछ दूर॥

और सुनाऊँ ? अभी बहुत कुछ कहना है अवशिष्ट,
एक ओर से कभी किसी का होता नहीं अनिष्ट।
क्या बोवें, क्या खाकर जोतें पाकर पट्टा मात्र ?
घर में प्लेग-वाहनों के घर हैं मिट्टी के पात्र॥

चलो, महाजन के सम्मुख अब जाकर जोड़ें हाथ,
बीज, खवाई वहीं मिलेगी, होंगे वहीं सनाथ !
"पहले पहला खाता देखो, दिये गए थे बीस,
होकर वे दो बार सवाये हुए सवा इकतीस !"

कितने दिन में ? दो फसलों में बीत चला है साल,
फसलें हैं कि फाँसियाँ हैं ये, साल है कि है काल !
जैसा समझो रहो मिलाते अपने मन में मेल,
किन्तु बोलना नहीं, नहीं तो बिगड़ जायगा खेल॥

होंगे फिर आना ऊपर ये बढ़कर उनतालीस,
तो चौबीस और दे दीजे होंगे यह भी तीस।
अभी जेठ है, अगहन भर में होंगे सभी वसूल,
सब पन्द्रह आने कम सत्तर! जाना कहीं न भूल॥

क्या पन्द्रह आने कम सत्तर नहीं मिलेगी छूट?
आने तो मैं दे न सकूँगा, ब्याज है कि है लूट!
देख विचार - विहीन पिता का ऐसा भोला भाव,
हँसा महाजन भी फिर उसने मान लिया प्रस्ताव!

तीन बार होकर सनाथ यों लौटे श्रान्त शरीर,
तीनों बार किसी विध माँ ने रोका लोचन - नीर।
स्वार्थ पूर्ण संसार! सजग हो, हुआ बहुत अविचार,
प्रलय करेगा निर्दोषी का अश्रु - सिन्धु इस बार!

ढोर बिक चुके थे पहले ही बाकी थे दो बैल,
मैं था, वे थे और नित्य थी हार-खेत की गैल।
सघन करौंदी के निकुञ्ज का वहीं रहा विश्राम,
खेल-कूद के साथी छूटे, पड़ा राम से काम॥

सूर्य्य निरन्तर बरसाता था सिर पर तीखे तीर,
घायल-सा हो लगा चाहने मैं पल पल में नीर!
सूरत बदल गई दो दिन में, जर्जर हुआ शरीर;
पर उस जीवन-समर-भूमि में बना रहा मैं धीर॥

हुए प्रसन्न पिता भी मुझ पर रोष-भाव को छोड़ ,
करने लगे परिश्रम मिलकर हम दोनों जी तोड़ ।
जोत जात कर बीज योग्य जब खेत किये तैयार ,
तब वर्षा के लिये इन्द्र की होने लगी पुकार ॥

पानी के बदले ऊपर से बरस रही थी आग ,
आँधी बन कर खेल रही थी हवा धूल की फाग ।
शान्त रही न महामारी भी पाकर योग उमङ्ग ,
लगी धधकने मृतक-होलियाँ, हुआ रङ्ग में भङ्ग ॥

भाग बचे थे प्लेग-वेग से, अब है कौन उपाय ?
चारों ओर आग की ज्वाला फैल रही है हाय !
अर्द्ध रात्रि थी, सोता था मैं, खुली अचानक आँख ,
अन्धेरे में सुना कि जननी रही कष्ट से काँख ॥

'माँ' कह कर मैं उठा और झट पहुँचा उसके पास ,
मुझे देख कर उसने केवल लिया एक निश्वास ।
काली छाया डाल चुका था मुँह के ऊपर काल ,
पुत्र देख सकता है कैसे जननी का यह हाल ॥

पर, वश क्या था, रोने का भी समय न था इस बार ,
करने लगे शीघ्र ही हम सब किसी भाँति उपचार ।
कुछ न हुआ, आते ही आते ऊषा का आलोक—
अन्धकार छा गया गेह में, दीख पड़ा बस शोक ?

होंगे फिर आना ऊपर ये बढ़कर उनतालीस,
तो चौबीस और दे दीजे होंगे यह भी तीस।
अभी जेठ है, अगहन भर में होंगे सभी वसूल,
सब पन्द्रह आने कम सत्तर! जाना कहीं न भूल॥

क्या पन्द्रह आने कम सत्तर नहीं मिलेगी छूट?
आने तो मैं दे न सकूँगा, ब्याज है कि है लूट!
देख विचार-विहीन पिता का ऐसा भोला भाव,
हँसा महाजन भी फिर उसने मान लिया प्रस्ताव!

तीन वार होकर सनाथ यों लौटे श्रान्त शरीर,
तीनों वार किसी विध माँ ने रोका लोचन-नीर।
स्वार्थ पूर्ण संसार! सजग हो, हुआ बहुत अविचार,
प्रलय करेगा निर्दोषी का अश्रु-सिन्धु इस वार!

ढोर बिक चुके थे पहले ही बाकी थे दो बैल,
मैं था, वे थे और नित्य थी हार-खेत की गैल।
सघन करौंदी के निकुञ्ज का वहीं रहा विश्राम;
खेल-कूद के साथी छूटे, पड़ा राम से काम॥

सूर्य्य निरन्तर बरसाता था सिर पर तीखे तीर,
घायल-सा हो लगा चाहने मैं पल पल में नीर!
सूरत बदल गई दो दिन में, जर्जर हुआ शरीर;
पर उस ज़ीवन-समर-भूमि में बना रहा मैं धीर॥

हुए प्रसन्न पिता भी मुझ पर रोष-भाव को छोड़,
करने लगे परिश्रम मिलकर हम दोनों जी तोड़।
जोत जात कर बीज योग्य जब खेत किये तैयार,
तब वर्षा के लिये इन्द्र की होने लगी पुकार ॥

पानी के बदले ऊपर से बरस रही थी आग,
आँधी बन कर खेल रही थी हवा धूल की फाग।
शान्त रही न महामारी भी पाकर योग उमङ्ग,
लगी धधकने मृतक-होलियाँ, हुआ रङ्ग में भङ्ग ॥

भाग बचे थे प्लेग-वेग से, अब है कौन उपाय?
चारों ओर आग की ज्वाला फैल रही है हाय!
अर्द्ध रात्रि थी, सोता था मैं, खुली अचानक आँख,
अन्धेरे में सुना कि जननी रही कष्ट से काँख ॥

'माँ' कह कर मैं उठा और झट पहुँचा उसके पास,
मुझे देख कर उसने केवल लिया एक निश्वास।
काली छाया डाल चुका था मुँह के ऊपर काल,
पुत्र देख सकता है कैसे जननी का यह हाल ॥

पर, वश क्या था, रोने का भी समय न था इस बार,
करने लगे शीघ्र ही हम सब किसी भाँति उपचार।
कुछ न हुआ, आते ही आते ऊषा का आलोक—
अन्धकार छा गया गेह में, दीख पड़ा बस शोक?

मैं अचेत-सा था; लोगों ने करवाया संस्कार;
आते ही आते श्मशान से पिता हुए बीमार।
निर्दय दैव! सँभल जाने दे, न कर घात पर घात,
एक साथ कह भी न सकूँगा मैं तेरी वह बात॥

सर्वस्वान्त

कुलवन्ती ! क्या करूँ ? पिता भी चल दिये !
हम दोनों रह गये यातना के लिये !
छोड़ हमें प्रतिबिम्ब सदृश अपना यहाँ,
वे दोनों किसलिए जा छिपे हैं कहाँ ?

सहृदय पाठक ! सुना सुना कर निज कथा—
तुमको देना नहीं चाहता मैं व्यथा।
बस तुम रोको मुझे न रोने से अहो !
करके इतनी कृपा सदा सुख से रहो ॥

हा ! मैं रोऊँ जो न आज तो क्या करूँ ?
इस ज्वाला में धैर्य्य और कैसे धरूँ ?
दो बूँदें भी दग्ध हृदय को दूँ न मैं ?
मानव ही हूँ, शिला-खण्ड तो हूँ न मैं !

रोऊँ किसके निकट ? उन्हीं भगवान के—
दाता जो सुख और दुःख के दान के।
क्या इससे भी हानि किसीकी है कहीं ?
यदि है तो वह मनुज नहीं, पशु भी नहीं ॥

प्रकृत कथा, पर कहाँ ? प्रकृतपन खो गया ,
अनहोनी का यहाँ आक्रमण हो गया !
दुख में सुख का योग सर्वदा को गया ,
गया न परिकर सहित हाय ! क्यों जो गया ?

कुलवन्ती ने कहा—"भाग्य में था यही ,
अनहोनी भी इसीलिए होकर रही ।
जाते हम भी वहां गये हैं वे जहाँ ,
कौन हमारे कर्म्म भोगता फिर यहाँ ?

हमको उनके विना भले ही गति न हो ,
पर जीने में उन्हें कौन सुख था अहो ,
सौख्य न भी हो, मिटे मरण से कष्ट ही ,
तो यों उनका कष्ट हुआ है नष्ट ही ॥

कुछ दिन से क्यों भूख हमारी मर रही ?
खाते थे अधपेट सदा कह कर यहीं ।
यह मिस था इसलिए कि हम अफरे रहें ,
ईश्वर ! ऐसे कष्ट न बैरी भी सहें ॥"

हाय ! हमारे लिए पिता भूखों मरे ,
इसीलिए उत्पन्न हुआ था मैं हरे !
जननी ! जननी ! स्नेहमयी जननी ! हहा !
इसीलिए था प्रसव - कष्ट तूने सहा ?

सब होना चाहते पुत्र से हैं सुखी,
पर तुम उलटे हुए हाय मुझसे दुखी!
और दुखी ऐसे कि विवश मरना पड़ा,
सह सकता था कष्ट कौन ऐसा कड़ा।

जाओ, तब हे जननि! जनक जाओ वहाँ—
शान्त हो सके घोर जगज्वाला जहाँ।
सबकी सबके साथ जहाँ ममता रहे,
कभी विषमता न हो, सदा समता रहे॥

कुलवन्ती ने कहा कि—"अब धीरज धरो,
जिसमें यह संसार चले ऐसा करो।
और किसे अब यहाँ हमारा ध्यान है?
ऊपर नीचे वही एक भगवान है॥

हुआ सामना आज सही, मँझधार का,
पता नहीं है किसी ओर भी पार का।
फिर भी आओ, बने जहाँ तक हम तरें,
प्रभु चाहें तो पार हमें अब भी करें॥

मन को रोको शोक, सहन होगा तभी,
उद्यत हो, यह भार वहन होगा तभी।
अपनी चिन्ता नहीं; मिला जो था दिया,
पर क्या देंगे उन्हें कि जिनसे है लिया?"

हैं बस मेरे प्राण, जिसे अब चाह हो,
जमींदार हो या कि महाजन साह हो।
यों कह कर मैं मौन हो गया आप ही,
वह भी बोली नहीं, रही चुप चाप ही ॥

किन्तु उसीका कथन सर्वथा ठीक था,
मेरा यह आक्षेप नितान्त अलीक था,
कुछ भी हो संसार आप चलता नहीं,
मर जाओ पर प्रकृति-नियम टलता नहीं ॥

जलता है यदि हृदय तुम्हारा तो जले,
खलता है यदि खान-पान भी तो खले।
करना होगा काम छटपटाते हुए,
डूबो भी तो हाथ फटफटाते हुए!

लेकर गाड़ी - बैल खेत पर मैं गया,
हुआ हृदय का शोक वहाँ फिर से नया।
कण कण में था पिता-स्मरण ही उग रहा,
उसे सींचता हुआ नेत्र-जल फिर बहा!

लगा लोटने शून्य देख सब ओर मैं,
सहकर भी यों शोक मरा न कठोर मैं।
मरता कैसे, अभी और भी भोग था,
मृत्यु दूर थी और मानसिक रोग था।

पानी था कुछ बरस गया इस बीच में,
पर वह हमको और फँसाने कीच में।
घर में था जो अन्न उसे भी खो दिया,
गया बीज वह व्यर्थ कि जो था बो दिया!

एक बार ही बरस पयोद चले गये,
विधि से भी हम दीन किसान छले गये!
वर्षा में ही हुआ शरद का वास था,
करता मानों धवल चन्द्र उपहास था!

आशांकुर भी गये काल-पशु से चरे,
पीले पड़ने लगे खेत जो थे हरे।
दृग न सूखना देख सके, बरसे सही,
किन्तु धरा की गोद रीत कर ही रही!

जहाँ कुएँ थे वहाँ परोहे भी चले,
पर सौ में दो चार खेत फूले-फले।
मैं क्या करता? प्राण छटपटाने लगे,
नहरों वाले गाँव याद आने लगे!

यह दुकाल था, देश हुआ उत्सन्न-सा,
भुस-चारा भी चढ़ा तुला पर अन्न-सा!
ऋण-दाता भी और न धीरज धर सके,
बहुत दया की थी, न और फिर कर सके!

साह, महाजन, जमींदार तीनों ठने !
बात, पित्त, कफ सन्निपात जैसे बने।
पन्द्रह दूनी तीस साह ने भी किये !
मौके पर थे दिये पुलिस-प्रभु के लिये !

सन्ध्या थी उस समय तामसिक याम था,
आया "कुड़क अमीन," मुझीसे काम था।
बस, मेरापन आत्म-भाव खोने लगा,
जो कुछ था वह सभी कुर्क होने लगा !

अविकृत-सा मैं बना घोर गम्भीर था,
मन जड़-सा था और अकम्प शरीर था।
सभी ओर से बद्ध हुआ-सा मैं रहा,
मानों शोणित भी न नाड़ियों में बहा !

कुलवन्ती से कहा गया—"गहने कहाँ ?"
थी चाँदी की एक मात्र हँसली वहाँ !
जब तक उसे अमीन छीनने को कहे—
उसने आप उतार दिया, ऋण क्यों रहे ।।

हुआ काम भी और रहा कानून भी,
नजराने में क्या न जमेगी दून भी !
दल-बल-सहित अमीन गया सानन्द ही,
मैं कुलवन्ती - सहित रहा निस्पन्द ही ।।

आँगन में यम-मूर्ति यामिनी आगई,
घर के भीतर अटल अँधेरी छा गई।
लाख लाख नक्षत्र नयन नभ खोल कर—
हमें देखने लगा न कुछ भी बोल कर॥

देख, दैव! तू देख, हमारे नाश को,
देखा मैंने एक वार आकाश को।
तत्क्षण मुहँ पर दिया थपेड़ा वायु ने,
साथ न छोड़ा किन्तु अभागी आयु ने!

कुलवन्ती भी उठी निकट आई तथा,
बोली-"अब" बस कह न सकी फिर कुछ कथा।
लिपट गई वह फूट फूट कर रो उठी,
मैं भी रोया विषम वेदना हो उठी!

ऐसे निर्दय भाव भरे हैं वित्त में!
एक वार ही लगी आग-सी चित्त में।
बोला मैं—अब हैं स्वतन्त्र दोनों जने—
मैं शिव हूँ, तू शक्ति, देश मरघट बने॥

नहीं, नहीं, शिव नहीं, बनूँगा रुद्र मैं,
जानेंगे सब लोग—नहीं हूँ क्षुद्र मैं,
पुलिस मुझे, थी व्यर्थ लुटेरा कह रही,
देखे अब वह शीघ्र कि हाँ, मैं हूँ वही॥

आप लुटेरे, और बनाते हैं हमें,
लुटवाते हैं आप, सताते हैं हमें।
करते हैं बदनाम सभ्य सरकार को,
करती है जो दूर सदा अविचार को॥

जमादार वह कहाँ? आज पकड़े मुझे,
आवे, आकर यहाँ आज जकड़े मुझे।
जिन पन्द्रह के तीस मुझे देने पड़े—
खटकेंगे आमरण कलेजे में अड़े॥

यदि मैं डाकू बनूँ मुझे क्या दोष है?
दोषी है तो पुलिस उसी पर रोष है।
जमींदार भी कु-फल किये का पायगा,
झूठे रुक्के फिर न कभी लिखवायगा॥

और महाजन? कर्ज़ लिया उससे सही,
किन्तु ब्याज की लूट नहीं जाती सही।
मुझ-से मेरे बन्धु न लुटने पायँगे,
वही लुटेंगे जो कि लूटने जायँगे॥

मैं क्या क्या कह गया न जाने, रोष से,
गूँज उठा घर घोर घटा-से घोष से।
मन में आया आग लगा दूँ मैं अभी,
इसी गेह से भभक उठे भारत सभी!

कुलवन्ती डर गई, कष्ट पाती हुई,
बोली कातर गिरा गिड़गिड़ाती हुई—
"हाहा खाती हूँ, न हाय! तुम यों कहो,
शान्त रहो, दुर्भाग्य जान कर सब सहो॥

न लो लूट का नाम, पाप है पाप ही,
फल पावेंगे सभी किये का आप ही।
छोड़ो बुरे विचार पाप-प्रतिकार के,
न्यायालय हैं खुले हुए सरकार के॥

कोई हो, जब दोष सिद्ध हो जायगा,
दण्ड पायगा, कभी न बचने पायगा।
प्रभु के घर भी न्याय और सु-विचार है,
भला दण्ड का हमें कौन अधिकार है?

पर न रहो अब यहाँ, ठौर भी है कहाँ,
चलो, चलें, ले जाय भाग्य अपना जहाँ।
सास-ससुर के फूल तीर्थ में छोड़ कर—
माँगूँगी मैं क्षमा वहाँ कर जोड़ कर॥

गङ्गा मैया दया करेगी अन्त में,
सारे दुख-सन्ताप हरेगी अन्त में।
भाग्य हमारे बुरे, किसीने क्या किया?
हरि ने भी वनवास एक दिन था लिया!

आग लगे क्यों, और देश भी क्यों जले;
सुखी रहे वह और सदा फूले-फले।
भूमि बहुत है कहीं ठौर पा जायँगे,
प्रभु देंगे तो कभी सु-दिन भी पायँगे॥

तुम मेरे सर्वस्व, मुझे मत छोड़ियो;
विचलित होकर नियम न कोई तोड़ियो।"
यों कह कर वह मुझे पकड़ कर रह गई,
गद्गद होती हुई जकड़ कर रह गई॥

कुलवन्ती! हे प्रिये! शान्त हो, शान्त हो
चलो जहाँ पर मनुज न हों, एकान्त हो।
तू ही मेरी एक मात्र है सम्पदा;
दीप-शिखा-सी मार्ग दिखाती रह सदा॥

था मैं भी सावेग उसे पकड़े खड़ा,
इसी समय कुछ शब्द द्वार पर सुन पड़ा।
साँकल खटकी और सिपाही ने कहा—
बेगारी चाहिए, निकल, क्या कर रहा!

बेगारी? क्या नहीं आज भी मुक्ति है?
बचने की अब यहाँ कौन-सी युक्ति है?
छूटे अब तो पिण्ड, देश हम छोड़ते,
सबसे निज सम्बन्ध सदा को तोड़ते!

यम के रहते हुए हाय ! ऐसी व्यथा ?
पूरी हो क्या यहीं अधूरी यह कथा ?
दयानिधे, क्या दया तुम्हारी चुक गई ?
और अधिक क्या कहूँ, गिरा भी रुक गई !

देशत्याग

एक जन ने यों त्रिवेणी-तीर पर मुझसे कहा—
"तरस मुझको आ रहा है देख कर तुमको अहा !
तुम दुखी-से दीखते हो, क्या तुम्हें कुछ कष्ट है ?
कठिन है निर्वाह भी, यह देश ऐसा नष्ट है !

यह अवस्था और सूखे फूल-सा यह मुख हुआ !
जान पड़ता है, कभी तुमको नहीं कुछ सुख हुआ !
किन्तु अब चिन्ता नहीं, तुम पर हुई प्रभु की दया,
जान लो बस, आज से ही दिन फिरे, दुख मिट गया ।

शीघ्र मैं साहब बहादुर से मिलाऊँगा तुम्हें,
नौकरी—पर मालिकी-सी—मैं दिलाऊँगा तुम्हें ।
वस्त्र-भोजन और पन्द्रह का महीना, धाम भी ;
काम भी ऐसा कि जिसमें नाम भी आराम भी ॥

सैर सागर की करोगे दृश्य देख नये नये,
जानते हो तुम पुरी को ? द्वारिका भी हो गये ?
यह वहू है ? ठीक है बस, भाग्य ने अवसर दिया ;
याद मुझको भी करोगे, था किसीने हित किया !"

मैं चकित-सा रह गया, यह मनुज है या देवता ;
पर लगा पीछे मुझे उस "आरकांटी" का पता !
सावधान ! स्वदेशवासी, हा ! तुम्हारे देश में—
घूमते हैं दुष्ट दानव मानवों के वेश में !

सजग रहना, सत्य-वेशी झूठ है छलता यहाँ,
देव-वेशी दस्यु-दल की बढ़ रही खलता यहाँ।
अकृत पापी भी यहाँ पर साधु फिरते हैं बने,
देखना, सर्वत्र उनके जाल फैले हैं घने !

रात तक हमको फँसा कर वह "डिपो" में ले गया,
घेर कोई ढोर काँजी हौस में ज्यों दे गया !
और भी पशु-सम वहाँ कितने अभागे थे घिरे,
हाय ! दलदल से निकल कर हम अनल में जा गिरे !

उस नरक के द्वार को ही देख कुलवन्ती डरी,
डूब कर ही क्या रहेगी अन्त में जीवन-तरी !
जानता था मैं कि मैंने दुःख भोग लिये सभी,
किन्तु दुःख अपार हैं, पूरे नहीं होते कभी !

हो चुके सर्वस्व खो कर दीन से भी दीन थे,
किन्तु फिर भी हम अभी तक सर्वथा स्वाधीन थे।
आज मुक्त समीर में वह साँस लेना भी चला,
हो गया संकीर्ण नभ, घुटने लगा मानों गला !

किन्तु क्या करते, विवश थे, हम वचन थे दे चुके ,
आप ही थे आपदा का भार सिर पर ले चुके ।
कौन फँसता है निकलने के लिए दृढ़ जाल में ?
दैव ने यह भी लिखा था इस कठोर कपाल में !

शीघ्र ही 'साहब बहादुर' ने हमें दर्शन दिये ,
और झट 'हाँ' भी करा ली 'फिजी' जाने के लिए !
जानते थे हम न तब भी यह कि केवल एक 'हाँ' ,
पाँच बरसों के लिए रौरव नरक देता यहाँ !

देख लो, अब वह अतल जल सामने लहरा रहा ,
काल का-सा केतु वह जलयान पर फहरा रहा ।
यह हमारी सिन्धु-यात्रा हो महायात्रा कहीं ,
फेर दे तो क्यों न हम पर सिन्धु, तू पानी यहीं !

हाय रे भारत ! तुझे इतना हमारा भार है—
जो हमारा अन्त भी तुझको नहीं स्वीकार है !
मृत्यु-हित भी सात-सागर-पार जाना है हमें ,
स्वर्ग के बदले वहाँ भी नरक पाना है हमें !

पूछने पर यह कि "कैसे है हुआ आना यहाँ ,"
आर्य्यभूमि ! हमें बता दे, क्या कहेंगे हम वहाँ ?
बोल, यह कह दें कि तेरी कीर्त्ति करने के लिए ,
या यही कह दें कि अपनी मौत मरने के लिए ।

हड्डियाँ घोली तथा शोणित सुखाया है सदा,
उर्वरा करके तुझे दी है हमींने सम्पदा।
और भारतभूमि! तुझसे हा! हमीं वञ्चित रहे,
याद तो कर यह कि हमने कष्ट कितने हैं सहे॥

अन्नपूर्णारूपिणी माँ! तू हमें है छोड़ती,
हाय! माँ होकर सुतों से तू स्वयं मुहँ मोड़ती!
तो विदा दे अब हमें, तू भोगती रह सुख सभी,
हम सदा तेरे, न चाहे तू हमारी हा कभी!

बस, जहाज! चले चलो, अब डगमगाना छोड़ दो,
पवन! तुम भी सिन्धु में लागें लगाना छोड़ दो।
देखने को सभ्ययुग के दृश्य हम हैं जा रहे,
किन्तु भीतर और बाहर क्यों हिलोरे आ रहे॥

हम कुली थे और काले, गगन से मानों गिरे,
पशु-समान जहाज में थोड़ी जगह में थे घिरे!
भङ्गियों का काम भी परवश हमें करना पड़ा;
और कुत्तों की तरह पापी उदर भरना पड़ा!

मृत्यु का मुख-सा हमारे अर्थ रहता था खुला,
रोटियाँ पाते गिनीं हम और पानी भी तुला!
बहुत हो तो गालियाँ खावें तथा आँसू पियें,
पूछता था कौन फिर चाहे मरें चाहे जियें!

किन्तु क्या करते, विवश थे, हम वचन थे दे चुके,
आप ही थे आपदा का भार सिर पर ले चुके।
कौन फँसता है निकलने के लिए दृढ़ जाल में ?
दैव ने यह भी लिखा था इस कठोर कपाल में !

शीघ्र ही 'साहब बहादुर' ने हमें दर्शन दिये,
और झट 'हाँ' भी करा ली 'फिजी' जाने के लिए !
जानते थे हम न तब भी यह कि केवल एक 'हाँ',
पाँच बरसों के लिए रौरव नरक देता यहाँ !

देख लो, अब वह अतल जल सामने लहरा रहा,
काल का-सा केतु वह जलयान पर फहरा रहा।
यह हमारी सिन्धु-यात्रा हो महायात्रा कहीं,
फेर दे तो क्यों न हम पर सिन्धु, तू पानी यहीं !

हाय रे भारत ! तुझे इतना हमारा भार है—
जो हमारा अन्त भी तुझको नहीं स्वीकार है !
मृत्यु-हित भी सात-सागर-पार जाना है हमें,
स्वर्ग के बदले वहाँ भी नरक पाना है हमें !

पूछने पर यह कि "कैसे है हुआ आना यहाँ,"
आर्य्यभूमि ! हमें बता दे, क्या कहेंगे हम वहाँ ?
बोल, यह कह दें कि तेरी कीर्त्ति करने के लिए,
या यही कह दें कि अपनी मौत मरने के लिए।

हड्डियाँ घोलीं तथा शोणित सुखाया है सदा,
उर्वरा करके तुझे दी है हमींने सम्पदा।
और भारतभूमि! तुझसे हा! हमीं वञ्चित रहे,
याद तो कर यह कि हमने कष्ट कितने हैं सहे॥

अन्नपूर्णारूपिणी माँ! तू हमें है छोड़ती,
हाय! माँ होकर सुतों से तू स्वयं मुँह मोड़ती!
तो विदा दे अब हमें, तू भोगती रह सुख सभी,
हम सदा तेरे, न चाहे तू हमारी हो कभी!

बस, जहाज! चले चलो, अब डगमगाना छोड़ दो,
पवन! तुम भी सिन्धु में लागें लगाना छोड़ दो।
देखने को सभ्ययुग के दृश्य हम हैं जा रहे,
किन्तु भीतर और बाहर क्यों हिलोरे आ रहे॥

हम कुली थे और काले, गगन से मानों गिरे,
पशु-समान जहाज में थोड़ी जगह में थे घिरे!
भङ्गियों का काम भी परवश हमें करना पड़ा;
और कुत्तों की तरह पापी उदर भरना पड़ा!

मृत्यु का मुख-सा हमारे अर्थ रहता था खुला,
रोटियाँ पाते गिनीं हम और पानी भी तुला!
बहुत हो तो गालियाँ खावें तथा आँसू पियें,
पूछता था कौन फिर चाहे मरें चाहे जियें!

बहुत लोग जहाज में ही कष्ट पाकर मर गये,
धन्य थे वे शीघ्र ही जो सब दुखों से तर गये !
जो मरा, फेंका गया तृण-तुल्य सागर-नीर में,
हड्डियाँ भर पा सके जलचर विनष्ठ शरीर में !

दूर चारों ओर मानों सिन्धु नभ में था धँसा,
बीच में गतिशील भी जलयान मानों था फँसा।
ज्ञात होता था यही—अब निकलना सम्भव नहीं,
मर मिटेंगे बीच में हम सब यहीं दब कर कहीं !

त्योरियाँ अधिकारियों की बरछियाँ-सी हूलतीं,
दृष्टियाँ तलवार-सी सिर पर सदा थीं झूलतीं।
वध्य पशु-सम अर्द्धमृत हम तीन मास सड़ा किये,
तब कहीं जाकर फिजी ने सामने दर्शन दिये !

कैदियों-सा पुलिस ने आकर हमें घेरा वहाँ,
काल की-सी कोठरी में फिर मिला डेरा वहाँ !
नींद भी डर से न सहसा कर सकी फेरा वहाँ,
दीखता था बस हमें अन्धेर अन्धेरा वहाँ।

दैव ! ला पटका कहाँ, हा ! हम कहाँ भारत कहाँ ;
जन्म पाया था वहाँ, आये तथा मरने यहाँ !
सो गया जब तक न मैं यों ही व्यथा होती रही,
किन्तु कुलवन्ती न सोई, रात भर रोती रही ॥

फिजी

अधम आरकाटी कहता था—फिजी स्वर्ग है भू पर ,
नभ के नीचे रह कर भी वह पहुँच गया है ऊपर !
मैं कहता हूँ, फिजी स्वर्ग है तो फिर नरक कहाँ है ?
नरक कहीं हो किन्तु नरक से बढ़कर दशा यहाँ है ॥

दया भले ही न हो नरक में न्याय किया जाता है ,
आता है हतभाग्य यहाँ जो दण्ड मात्र पाता है ।
यम के दूत निरपराधों पर कब प्रहार करते हैं ,
यहाँ निष्ठुरों के हाथों हम विना मौत मरते हैं ॥

ढोर कसाई-खाने में बस भूख-प्यास सहते हैं ,
जोते कभी नहीं जाते हैं, बँधे मात्र रहते हैं ।
नियमवद्ध हम अधपेटों को खेत गोड़ने पड़ते ,
अवधि पूर्ण होने के पहले प्राण छोड़ने पड़ते !

गीध मरीं लोथें खाते हैं, ओवरसियर निरन्तर ,
हाथ चलाते यहाँ हमारी जीती अबलाओं पर ।
भारतीय कुलियों का मानों फिजी श्मशान हुआ है ,
हाय ! मनुजता का मनुजों से यह अपमान हुआ है ॥

भूमि राम जाने किसकी है, श्रम है यहाँ हमारा ;
किन्तु विदेशी व्यापारी ही लाभ उठाते सारा !
जड़ यन्त्रों को भी तैलादिक भक्ष्य दिया जाता है,
अर्द्धाशन में हम से दूना काम लिया जाता है ॥

हाथों में फोले पड़ जावें पर धरती को गोड़ो,
रोगी रहो, किन्तु जीते जी कार्य अपूर्ण न छोड़ो।
ये गन्नों के खेत खड़े हैं इनसे खाँड़ बनेगी,
उससे तुम्हीं भारतीयों की मीठी भङ्ग छनेगी !

भारतवासी बन्धु हमारे ! तुम यह खाँड़ न लेना,
लज्जा से यदि न हो, घृणा से इसे न मुँह में देना।
हम स्वदेशियों के शोणित में यह शर्करा सनी है,
हाय ! हड्डियाँ पिसी हमारी तब यह यहाँ बनी है ॥

वह देखो किसकी ठोकर से किसकी तिल्ली टूटी ;
धरती लाल हुई शोणित से हाय खोपड़ी फूटी।
अपनी फाँसी आप कौन वह लगा रहा है देखो,
जीवन रहते विवश मृत्यु को जगा रहा है देखो।

देखो, दूर खेत में है वह कौन दुःखिनी नारी,
पड़ी पापियों के पाले है वह अबला बेचारी।
देखो, कौन दौड़ कर सहसा कूद पड़ी वह जल में !
पाप जगत से पिण्ड छुड़ा कर डूबी आप अतल में !

न्याय देवता के मन्दिर में देखो, वह अभियोगी,
हो उलटा अभियुक्त आप ही हुआ दण्ड का भोगी।
प्रतिवादी वादी बन बैठा, वह ठहरा अधिकारी,
साक्षी कहाँ, कहाँ है साथी, है पूरी लाचारी॥

डूबे हुए पसीने में वे कौन आ रहे देखो,
आँखों में भी स्वेद-बिन्दु या अश्रु छा रहे देखो।
पर-वश होकर दस दस घण्टे हैं वे खेत निराते,
साँझ हुए पर गिरते पड़ते डेरे पर हैं आते॥

दस नर पीछे तीन नारियाँ थकी और शङ्कित-सी,
देखो, लौट रही हैं कैसी पत्थर में अङ्कित-सी।
बुझे हुए दीपक-से मन हैं, नहीं निकलती वाणी;
हा भगवान! मनुज हैं ये भी अथवा गूँगे प्राणी?

सुनो; फिजीवासी असभ्य वे हमसे क्या कहते हैं-
क्या तुम-जैसे ही जघन्य जन भारत में रहते हैं?
धिक है उसको जिसके सुत यों घोर अनादर पावें,
पुरुष कहा कर पशुओं से भी बढ़ कर समझे जावें॥

हे भारत के वीर वकीलो, हम क्या उत्तर देवें,
अथवा यह अपमान देश का चुप रह कर सह लेवें।
अब भी गान्धी-जैसे सुत की जननी भारत-माता,
तुमसे यह दुर्दृश्य निरन्तर कैसे देखा जाता?

दे कर अन्न दूसरों को भी माँ, तू पालन करती ;
पर तेरी सन्तति उसके हित परदेशों में मरती।
मरना ही है तो हे जननी ! घर में ही न मरें क्यों ?
परवश होकर वहाँ आप ही अपना घात करें क्यों ?

रख न सकें हम-पुत्रों को ही होकर भी जो धरणी ,
भरण न जो कर सके हमारा होकर भी भवभरणी।
तो भगवान भारतीयों की तनिक तुम्हीं सुध लीजो ,
वहीं नरक है, मरने को ही जग में जन्म न दीजो ॥

इसके आगे और क्या कहूँ जो कुछ मुझ पर बीती ;
सब सह कर भी मुझे देखकर कुलवन्ती थी जीती।
मैं भी उसे देख जीता था, मिथ्या है यह कहना ,
ऐसा होता तो स्मृति-दंशन क्यों पड़ता यह सहना ?

बस, यह बात समाप्त करूँगा वही हाल कह कर मैं ,
खोद रहा था खेत एक दिन ज्वराक्रान्त रह कर मैं।
गेंती का उठना गिरना था गिनती मेरी साँसें ,
हाथों में लिखती जाती थीं उसे वेंट की आँसें ॥

दिनकर सिर माथे पर थे जो मुझे निहार रहे थे ,
रोम रोम से पाद्य प्राप्त कर स्वपद पखार रहे थे।
बड़ी दूर सुन पड़ा अचानक मुझको कुछ चिल्लाना ,
चिर-परिचित कुलवन्ती का स्वर कानों ने पहचाना ॥

हृदय धड़कने लगा वेग से शेष रहा बस फटना,
याद आ गई वह भारत की नदी तीर की घटना।
जिसे तेंदुवे के पंजे से उस दिन बचा लिया था,
बचासकोगे आज न उसको, कहता यही हिया था॥

शीघ्र दौड़ कर जाकर मैंने कुलवन्ती को देखा,
भू पर पड़ी हुई थी मेरे नभ की हिमकर-लेखा।
मुँह से बहते हुए रुधिर से अञ्चल लाल हुआ था,
हा! स्वधर्म रखने में उसका ऐसा हाल हुआ था॥

पूछा मैंने-"यह क्या है" वह बोली "अन्त समय है,
किन्तु आगये तुम अब मुझको नहीं मृत्यु का भय है।
तुम्हें देख कर कालरूप वह ओवरसियर गया है,
यह चिर शान्ति आ रही है अब यह भी दैव-दया है॥

प्रकटित करके पाप-वासना वह दुःशील सुरापी,
लोभ और भय देकर मुझको लगा छेड़ने पापी।
किन्तु विफल होकर फिर उसने यह दुर्गति की मेरी,
सुखी रहो तुम सदा सर्वदा, मुझे नहीं अब देरी॥

यही सोच है, दे न सकी मैं अंक-मयंक तुम्हारा,
रहा पेट ही में वह मेरे, चला नहीं कुछ चारा।
लो बस अब मैं चली सदा को मन में मत घबराना,
मेरे फूल जा सको तुम तो, भारत को ले जाना॥"

हाय ! आज भी उन बातों से फटती यह छाती है ,
कुलवन्ती, कुलवन्ती, मुझको छोड़ कहाँ जाती है ?
तनिक ठहर मैं भी चलता हूँ, चली न जाना तौलों ,
तेरे पीड़क के शोणित से प्यास बुझा लूँ जौलों ॥

बड़े कष्ट से फिर वह बोली-"नादानी रहने दो ,
मेरा ही शोणित नृशंस के आस पास बहने दो ।
डूब जायगा वह उसमें ही, तैर नहीं पावेगा ;
सती-गर्भिणी अबला का वध वृथा नहीं जावेगा ॥

यही, नहीं यह कुली-प्रथा भी उसमें बह जावेगी ,
भावी भारत में बस इसकी स्मृति ही रह जावेगी ।
रहे न वह अपमानस्मृति भी प्रभु से यही विनय है ,
पूर्व निरादर भी मानी को बन जाता विषमय है ॥

शासक जब इन सब बातों का पूर्ण पता पा लेंगे ,
तब अपना कर्त्तव्य आप ही वे अवश्य पालेंगे ।
मेरा मन कहता है, कोई काम तुम्हें है करना ;
है मेरी सौगन्ध तुम्हें तुम इस प्रकार मत मरना ॥

हे भगवान ! तुम्हारे सब दुख मैं ही लेती जाऊँ ,
और जन्म-जन्मान्तर में भी तुमको ही फिर पाऊँ ।"
इसके बाद याद है, मैंने राम नाम सुन पाया ,
उसी नाम को गिरते गिरते मैंने फिर दुहराया ॥

प्रत्यावर्तन

कुलवन्ती ! तू भी छोड़ गई क्या मुझको ?
क्यों मेरा रहना यहाँ इष्ट था तुझको ?
रख कर तेरी सौगन्ध रहूँगा अब मैं ;
मरणादिक दुख आमरण सहूँगा अब मैं ॥

तू जहाँ गई भय नहीं वहाँ पर कोई ;
पर मैंने अपनी आज हृदय-निधि खोई ।
मरने का अवसर खोज रहा हूँ अब मैं ,
यह तो कह जाती कि पा सकूँगा कब मैं ॥

मिथ्या हो सकती नहीं सती की वाणी ,
बडवाग्नि बुझा सकता न सिन्धु का पानी ।
अनुभव करता हूँ परम सत्यता तेरी ,
क्या स्वप्न मात्र है प्रिये ! कथा वह मेरी ?

दो सहृदय साहब शीघ्र वहाँ पर आये ;
दुख देख हमारा चार नेत्र भर लाये ।
एन्ड्रयूज-पियर्सन विदित नाम हैं उनके ,
मनुजोचित मङ्गल मनस्काम हैं उनके ॥

उनकी रिपोर्ट पढ़ दशा हमारी जानों,
फिर मैंने जो कुछ कहा सत्य सब मानों।
पशु कर रक्खें जो मनुज कहीं मनुजों को,
पशु क्यों न कहूँ उन मनुज रूप दनुजों को?

अन्यान्य अनेकों मनुज भाव के मानी,
यों देख सके उसकी न यहाँ पर हानी।
निज दुर्गत सुन चौंकने लगा भारत भी,
हा! 'भी' पद पर आसीन जगा भारत भी॥

समझी भारत सरकार अन्त में बातें;
निज कुली प्रजा के साथ यहाँ की घातें।
थे बड़े लाट हार्डिज-भला हो उनका,
सह सके न लगना न्याय दण्ड में घुन का।

थे यद्यपि यहाँ के वणिक वर्ण से भाई,
देखा न उन्होंने स्वार्थ, दया दिखलाई।
बस, पक्षपात से न्यायशील डरते हैं,
आत्मा का कभी विरोध नहीं करते हैं॥

क्या किया उन्होंने, नहीं जानता हूँ मैं,
पर उन्हें न्याय का रूप मानता हूँ मैं।
थी तीन नरों में जहाँ एक ही नारी,
टूटी आखिर वह कुली-प्रथा व्यभिचारी॥

बिजली ने यह वृत्तान्त यहाँ जब भेजा ,
दहला वणिकों का वज्र-समान कलेजा ।
हम सबके उर में इधर फिरी बिजली-सी ,
डीपो वालों पर उधर गिरी बिजली-सी ॥

उन मृगों से कि जो जटिल जाल से छूटे ,
पूछो हमने जो सौख्य उस समय लूटे ,
जय जय करके सब सुधा-स्वाद लेते थे ,
मृत बन्धु जनों को सुसंवाद देते थे ॥

उस घृणित प्रथा से मुक्ति देश ने पाई ,
फिर हम लोगों के लिए शुभ घड़ी आई ।
भारत को लौटे चले जा रहे हम हैं ,
वह गया हुआ स्वातन्त्र्य पा रहे हम हैं ॥

कुलवन्ती, तू क्यों आज कुछ नहीं कहती ?
तेरे शोणित में कुली - प्रथा है बहती !
लेकर मैं तेरे फूल चला भारत को ,
तू एक बार तो देख भला भारत को ॥

भारत ! फिर क्यों तू याद आ रहा मुझको ?
क्यों दिन दिन अपने निकट ला रहा मुझको ?
आता है मेरी ओर आज तू ज्यों ज्यों ,
होता है मुझको महामोद क्यों त्यों त्यों ?

अन्त

उतर नाव से सिर पर रक्खी सबने भारत की वह धूल ,
जिस पर प्रकृति चढ़ा रखती है रंग विरंगे सुरभित फूल ।
किया चिबुक चुम्बन समीर ने देकर हमें सुरभि-उपहार ,
पल्लव-पाणि-युक्त विटपों ने किया सहज स्वागत सत्कार ॥

सोच रहा था मैं मन ही मन करूँ कौन-सा अब मैं काम ,
जिसमें कुलवन्ती की आत्मा पावे शान्ति और विश्राम ।
सहसा हुआ विचार कि जिसने हमें नरक से लिया उबार ,
पड़ी आजकल रण-सङ्कट में वह मेरी उदार सरकार ॥

मेरे लिए यही अवसर है कि मैं करूँ उसका ऋण-शोध ,
धिक है जो उसके रिपुओं पर अब भी मुझे न आवे क्रोध ।
धन यदि नहीं, न हो, पर तन तो अब भी मेरा है अवशिष्ट ,
उसके रहते हुए राज्य का देखूँ मैं किस भाँति अनिष्ट ?

पर हल और फावड़े तक ही सीमाबद्ध रहे जो हाथ ,
चला सकेंगे क्या शस्त्रों को रण में वे कौशल के साथ ?
धनुर्वेद की शिक्षा पाकर बनते थे जो विश्रुत वीर ,
होकर अब निःशस्त्र वही हम हुए हाय ! अत्यन्त अधीर ॥

अब अपना कहने योग्य कौन है तुझमें,
जो है तेरा अभिमान आज भी मुझमें ?
तू तो है तुझमें देश ! आज भी मेरा,
तुझमें है भाषा - वेष आज भी मेरा ॥

तेरे गीतों में भाव भरा है मेरा,
तेरी चर्चा में चाव भरा है मेरा,
तुझमें पुरुषों का गेह बना है मेरा,
तेरे तत्वों से देह बना है मेरा ॥

तुझमें अब भी कुल-रीति-नीति है मेरी,
इस कारण तुझ पर परा प्रीति है मेरी।
पाता हूँ जग में कहीं न तेरी समता,
होती विदेश में ही स्वदेश की ममता ॥

यद्यपि तुझमें है दुःख निरन्तर पाया,
पर जा सकता तू नहीं कदापि भुलाया।
तू मेरा है, यह भाव रहेगा मन में,
जब तक यह मेरे प्राण रहेंगे तन में ॥

देखूँ, भारत ! मैं तुझे देखता हूँ कब,
इच्छा है केवल एक यही जी में अब।
हमको स्वदेश जलयान, शीघ्र पहुँचाओ,
वह स्वप्न - दृश्य प्रत्यक्ष सामने लाओ ॥

—:—

आखिर शुभ मुहूर्त में सब ने रण के लिए किया प्रस्थान,
हिलता-डुलता गर्व-पूर्ण-सा चलने लगा प्रबल जलयान।
बीच बीच में सीता-वर की करते थे सब जय जयकार,
स्वर में स्वर देकर अनन्त भी करता था उसकी गुंजार॥

यथा समय टिगरिस के तट पर उतरे हम सब डेरे डाल,
समाचार पत्रों में पढ़ना इसके आगे का सब हाल।
एक रोज अरिदल से आकर मैं अचेत हो हुआ सचेत,
"विक्टोरिया क्रास" छाती पर देखा मैंने शान्ति समेत!

भारतीय कप्तान हमारे मुझे धैर्य्य देकर सविशेष,
पूछ रहे हैं घर कहने को अब मेरा अन्तिम सन्देश।
पाठक, क्या कह कर मैं इनसे माँगूँ तुमसे विदा सहर्ष,
और मिलूँ झट कुलवन्ती से पाकर अन्त समय उत्कर्ष?

भारतीय मेरे बान्धव हैं, घर है मेरा सारा देश,
बस, यह मेरा आत्म-चरित ही है मेरा अन्तिम सन्देश।
इससे अधिक और क्या अब मैं कह सकता हूँ हे भगवान,
मेरे साथ देश के सारे दुःखों का भी हो अवसान॥

(फाल्गुनी पूर्णिमा संवत् १९७३ वि०)

कुछ हो, किन्तु कुली-जीवन से रण का मरण भला है नित्य ,
एक शत्रु भी मार सका मैं तो हो जाऊँगा कृतकृत्य ।
कहा साथियों से तब मैंने अपना अभिप्राय तत्काल ,
और कहा कि भाइयो, आओ, तोड़ें शत्रुजनों के जाल ॥

ब्रिटिश राज्य के उपकारों का बदला चलो, चुका दें आज ,
मरें न्याय के लिए समर में, रक्खें मनुष्यता की लाज ।
पन्ना जैसी माताओं ने देकर भी गोदी के लाल ,
यहाँ राजकुल की रक्षा की, चली न वनवीरों की चाल ॥

उसी देश में जन्में हैं हम हुए जहाँ झालापति मान ,
भारत का प्रताप रखने को दिये जिन्होंने रण में प्राण ।
राजभक्ति सर्वत्र हमारी रही सदा से ही विख्यात ,
उसे दिखाने का शुभ अवसर यही मुझे होता है ज्ञात ॥

किया साथियों के सम्मुख जो मैंने यह अपना प्रस्ताव ,
जाग उठे बस सबके मन में सहसा श्रद्धा-साहस-भाव ।
हुए सहस्रों की संख्या में सेना में प्रविष्ट हम लोग ,
कृषक, कुली, फिर सैनिक जीवन, देखो, नये नये संयोग ॥

इसी समय सरकार न्याय कर भारतीय वीरों के साथ ,
उन्हें अफसरी के परवाने देने लगी बढ़ाकर हाथ ।
भारतीय ही हैं हम सबकी सेना के सञ्चालक वीर ,
पाकर यों उत्साह हमारे पुलक पूर्ण हो उठे शरीर ॥

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त लिखित अन्य काव्य—

साकेत	३)	चन्द्रहास	।।।)
मङ्गल-घट	२)	तिलोत्तमा	।।)
गुरुकुल	२)	स्वदेश-सङ्गीत	।।।)
यशोधरा	१।।)	अनघ	।।।)
द्वापर	१।।)	किसान	।=)
त्रिपथगा	१।।)	शकुन्तला	।=)
सिद्धराज	१।)	नहुष	।=)
हिन्दू	१)	विश्व-वेदना	।=)
भारत-भारती	१।।)	काबा और कर्बला	१।)
जयद्रथ-वध	।।।)	कुणाल गीत	१।।)
झंकार	।।=)	अर्जन और विसर्जन	।=)
पत्रावली	।-)	वैतालिक	।)
बक-संहार	।=)	गुरुतेगबहादुर	।)
वन-वैभव	।=)	शक्ति	।)
सैरन्ध्री	।=)	रङ्ग में भङ्ग	।)
पञ्चवटी	।=)	विकट-भट	=)
दिवोदास	।)	जयिनी	।)
अजित	१।।)		

गुप्तजी द्वारा अनुवादित ग्रन्थ—

रुबाइयात उमरखैयाम	३)	मेघनाद-वध	३।।)
पलासी का युद्ध	१।।)	वीराङ्गना	१)
विरहिणी-व्रजाङ्गना	।)	स्वप्न वासवदत्ता	।।=)

प्रबन्धक—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)

श्रीसियारामशरणजी गुप्त की रचनाएं—

आर्द्रा	(कविता)	१)	पाथेय	(कविता)	१)
विषाद	,,	।-)	दूर्वादल	,,	॥=)
मौर्य्य-विजय	,,	।)	आत्मोत्सर्ग	,,	।=)
अनाथ	,,	।)	दैनिकी	,,	॥=)
मृण्मयी	,,	१।)	बापू	,,	॥)
गोद	(उपन्यास)	१।)	पुण्य-पर्व	(नाटक)	।॥)
अन्तिम-आकांक्षा	,,	१॥)	उन्मुक्त	(गीतिनाट्य)	१।)
नारी	,,	१॥)	झूठ-सच	(निबन्ध)	२)
मानुषी	(कहानी-संग्रह)	१)	नकुल		१॥)

अन्यान्य ग्रन्थ—

सुमन	१)	अंकुर	॥=)
हेमला सत्ता	।-)	स्वास्थ्य-संलाप	॥=)
मधुकरशाह	।)	पुरातत्त्व-प्रसङ्ग	॥=)
गोकुलदास	।)	सेल्कस	॥=)
चित्राङ्गदा	।=)	रेणुका	॥=)
गीता-रहस्य	२॥)	सुनाल	॥=)
श्रीमद्भगवतगीता	।=)	प्रबन्ध-पुष्पाञ्जलि	॥=)
पृथ्वी-वल्लभ	१॥)	रेणु	।-)

श्री श्रीप्रकाशजी द्वारा रचित और हमारे द्वारा प्रचारित—

गृहस्थ-गीता १।) मेरे विचार ॥=) नागरिक शास्त्र १॥)

भारत के समाज और इतिहास पर स्फुट विचार १।)

प्रबन्धक—साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी)